International Journal of Trend in Scientific Research and Development (IJTSRD)
Special Issue on Innovative Strategies in Multidisciplinary
Research and Analysis | February 2024
Available Online: www.ijtsrd.com e-ISSN: 2456 – 6470

आदिवासी जनजातीय लोगों का आर्थिक जीवन

सत्य नारायण कुमावत

सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, विद्या संबल योजना, राजकीय महाविद्यालय, बड़ाखेड़ा, ब्यावर

सार

"आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति हमारे तथाकथित सुसंस्कृत समाज का रवैया क्या है? वो चाहे सैलानी – पत्रकार लेखक हों या समाजशास्त्री, आम तौर पर सबकी एक ही मिलीजुली कोशिश इस बात को खोज निकलने की रही है कि आदिवासियों में अदभुत और विलक्षण क्या है? उनके जीवन और व्यवहार में आश्चर्य और तमाशे के लायक चीजों की तलाश और हमसे बेमेल और पराए पहलुओं को इकहरे तरीके से रोशन करने लोगों का ध्यान आकर्षित करने और मनोरंजन के लिए ही लोग आदिवासी समाज और सुसंस्कृति की ओर जाते रहे हैं। नतीजा हमारे सामने है : उनके यौन जीवन और रीति- रीवाजों के बारे में गुदगुदाने वाले सनसनीखेज ब्योरे तो खूब मिलते हैं, पर उनके पारिवारिक जीवन की मानवीय व्यथा नहीं। उनके अलौकिक विश्वास, जादू – टोने और विलक्षण अनूष्ठानों का आँखों देख हाल तो मिलता है, उनकी जिंदगी के हर सिम्त हाड़तोड़ संघर्ष की बहुरूपी और प्रमाणिक तस्वीर नहीं। वे आज भी आदमी की अलग नस्ल के रूप में अजूबा की तरह पेश किए जाते हैं। विचित्र वेशभूषा में आदिम और जंगली आदमी की मानिंद।"

परिचय

जनजातियों की सांस्कृतिक परम्परा और समाज – संस्कृति पर विचार की एक दिशा यहाँ से भी विचारणीय मानी जा सकती है। मानव विज्ञानियों और समाजशास्त्र के अधेताओं ने विभिन्न जनजातीय समुदायों का सर्वेक्षण मूलक व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है और उसके आधार पर विभिन्न जनजातीयों के विषय में सूचनाओं के विशद कोष हमें सुलभ है। पुन: इस अकूत शोध- सामग्री के आधार पर विभिन्न जनजातीय समूहों और समाजों के बारे में निष्कर्षमूलक समानताओं का निर्देश भी किया जा सकता है। लेकिन ऐसे अध्ययन का संकट तब खड़ा हो जाता है जब हम ज्ञान को ज्ञान के लिए नहीं मानकर उसकी सामाजिक संगति की तलाश खोजना शुरू करते हैं। ये सारी सूचनाएं हमें एक अनचिन्हीं- अनजानी दुनिया से हमारा साक्षात्कार कराती हैं, किन्तु इस ज्ञान का संयोजन भारतीय समाज में उनके सामंजस्यपूर्ण समायोजन के लिए किस प्रकार किया जाए, यह प्रश्न अन्य दुसरे सवालों से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यहाँ समाज – चिंतन की हमारी दृष्टि और उसके कोण की वास्तविक परीक्षा भी शुरू हो जाती है। ठीक यहीं से सूचनाओं का विश्लेष्ण – विवेचना चुनौती बनकर खड़े हो जाते हैं।[1,2,3]

किसी भी समाज का अतीत बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। तो भी शुद्ध अतीतजीवी होने की भी कोई तार्किकता नहीं हो सकती है। जनजातियों के संदर्भ में विचार करें तो यह सवाल और नुकीला हो जाता है कि क्या उन्हें आदिम मानव- सभ्यता के पूरातात्विक पुरावशेष के रूप में पुरातन जीवन- स्थिति में ही अलग थलग छोड़ दिया जाए या विज्ञान और तकनीकी प्रगति की आधुनिक व्यवस्था में समायोजित होने का अवसर भी दिया जाए? सवाल तो यह भी उतना है महत्त्वपूर्ण है कि क्या उनके विकास के नाम उन्हें आधुनिक जटिल राज्य तंत्र और समाज – व्यवस्था के सामने टूटकर विखरने के लिए छोड़ दिया जाए या उन्हें नए परिवेश में सहज गतिशील होने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाए?

आज जब औद्योगिक विकास के लिए खनिज सम्पदा और जंगल-पहाड़ के इलाके राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के लिए अनिवार्यतः उपयोगी माने जा रहे हैं और ये सारी सहूलियतें इन्हीं आदिवासी अंचलों में सुलभ हैं तो क्या क्षेत्रीय या राष्ट्रीय हितों के लिए 10 प्रतिशत आदिवासियों को विस्थापित कर उनकी अपनी जीवन शैली, समाज- संरचना, सांस्कृतिक मूल्यों में बलात वंचित कर किया जाए? यानी आज यह सर्वोपरी आवश्यकता दिख रही है कि विकास की मौजूदा अवधारणा की एक बार फिर समीक्षा की जाए और नई आधुनिक व्यवस्था में जनजातीय समूहों के मानवीय अधिकारों की समुचित अभिरक्षा की जाए। तभी जजतीय संस्कृति या उसकी परंपरा के विषय में हमारी चिंता को एक वास्तविक आधार सुलभ होगा।

"आदिवासियों के आख्यान उनके मिथक, उनकी परम्पराएँ आज इसलिए महत्त्वपूत्र नहीं हैं कि वे बीते युगों की कहानी कहती हैं, बल्कि उनकी अपनी संस्थाओं और संस्कृति के एतिहासिक तर्क और बौद्धिक प्रसंगिकता के लिहाज से भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, सौन्दर्यात्मक चेष्टाएँ और अनूष्ठानिक क्रियायें हमारी – आपकी कला- संस्कृति की तरह आराम के क्षणों को भरने वाली चीजों नहीं हैं, उनकी पूरी जिन्दगी से उनका एक क्रियाशील, प्रयोजनशील और पारस्परिक रिश्ता है, इसीलिए उनकी संस्कृति एक ऐसी अन्विति के रूप में आकार ग्रहण करती है जिनमें उनके जीवन और यथार्थ की पूनार्चना होती हैं"।

सांस्कृतिक परम्परा पर विचार करने से पहले यह परिभाषित कर लेना उचित प्रतीत होता है कि संस्कृति क्या है? संस्कृति कर लेना उचित प्रतीत होता है कि संस्कृति और लोकतंत्र में क्या अंतर है: जनजातीय संस्कृति और लोकसंस्कृति में भी कोई अंतर है या नहीं? विविध प्रकार की जीवन-शैलियों और सामाजिक परमपराओं में संस्कृति के जो स्थानिक और देशिक रूप दिखलाई पड़ते हैं, उनके वर्गीकरण और एकीकरण के क्या आधार हो सकते हैं। संस्कृति की जो व्याख्या मानवशास्त्री देते हैं वह स्वयं संस्कृतिकर्मियों के लिए कितना अर्थपूर्ण है?

संस्कृति का सीधा- सादा अर्थ है परिष्कार या संस्कार। वस्तुतः परिमार्जित संस्कार ही संस्कृति है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. राम खेलावन पाण्डेय ने लिखा है कि" संस्कृति शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और अंग्रजी कल्चर का समनार्थसूचक। इसके संबंध की मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद और विरोध हैं इसकी संबंध की मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद और विरोध हैं इसकी सीमाएँ तक ओर धर्म का स्पर्श करती हैं तो दूसरी ओर साहित्य को अपने बाहूपाश में आबद्ध करती हैं। संस्कृति भौतिक साधनों के संचयन के साथ ही अध्यात्मिकता की गरिमा से मंडित होती है। वेश- भूषा, परंपरा, पूजा-विधान और सामाजिक रीति – विधान और सामाजिक रीति- नीति की विवेचना भी संस्कृति के अंतर्गत होती है। ..... प्रकृति की सीमाओं पर मनुष्य ने जो विजय चाही, उसका भौतिक स्वरूप सभ्यता, और आत्मिक, अध्यात्मिक अथवा मानसिक स्वरूप संस्कृति है। सभ्यता बाह्य- प्रकृति पर हमारी विजय का गर्वध्वज है और संस्कृति अंत: प्रकृति पर विजय-प्राप्ति की सिद्धि।"

संस्कृति की ऐसी परिभाषाएँ अनेक विद्वानों ने उपलब्ध कराई हैं जिनमें उसके इस व उस पक्ष या कई पक्षों का समन्वय स्थापित करें के चेष्टाएँ झलकती हैं। किन्तु ऐसी परिभाषाएँ संस्कृति का खंडित अध्ययन करती हैं जबकि पिछली दो शताब्दियों में ज्ञान के विविध क्षेत्रों में कई नई परिभाषाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें एक यह भी है कि मनुष्य संस्कृति निर्माता प्राणी है। संस्कृति की व्याख्या न तो केवल अनुवांशिक जैविकता के आधार पर की जा सकती है, न सिर्फ सामाजिकता के आधार पर। इसी तरह उसे सभ्यता के अलग- अलग खानों में बाँटकर भी नहीं समझा जा सकता।[4,5,6]

टायलर ने संस्कृति की जो व्यापक संकल्पना प्रस्तावित की है, उसमें कई मतभेदों का समाहार देखा जा सकता है। टायलर के आनुसर संस्कृति "वह जटिल ईकाई है जिसके अंतर्गत और अभ्यास सम्मिलित हैं जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में अर्जित करता है।" इस तरह टायलर ने यह प्रतिपादित किया है कि संस्कृति सामाजिक परंपरा से अर्जित चिंतन, अनुभव और व्यवहार – मानसिक और क्रियात्मक व्यवहार की समस्त रीतियों की समष्टि है। यही संकल्पना परवर्ती मानव वैज्ञानिकों की कार्यप्रणाली का आधार बनी है। मैलिनोव्सकी की परिभाषा भी इससे मिलती जुलती है कि "संस्कृति के अंतर्गत वंशगत शिल्प- तथ्यों, वस्तुओं, तकनीकी प्रक्रियाओं, धारणाओं, अभ्यासों तथा मूल्यों का समावेश हो जाता है।" यही बात लिंटन, क्लकहॉन, क्रोबर आदि की परिभाषाओं में भी व्यक्त होती है।

वस्तुत: संस्कृति विषयक, चिंतन का क्षेत्र विभिन्न मतवादों से भरापूरा क्षेत्र है। मतान्तरों की परीक्षा का स्वतंत्र अध्ययन इस पुस्तक की सीमाओं में अभीष्ट नहीं है। इस संबंध में डॉ. दिनेश्वर प्रसाद की पुस्तक लोक साहित्य में इस विषय के विस्तार में जाकर विवेचन सुलभ और द्रष्टब्या है।

निष्पत्ति के रूप में यह कहा जा सकता है कि " विभिन्न संस्कृतियों की तुलनात्मक सांख्यिकी यह बतलाती है कि मानव जातियों एक ही वास्तविकता का मूल्यांकन अलग – अलग रूपों में करती हैं। सुन्दर और कुरूप, शिव और अशिव, सार्थक और निरर्थक आदि धारणाओं और मूल्यों के संबंध में उनमें पर्याप्त मतभेद हैं। ..... भारतीय दस दिशाओं की कल्पना करते छह की। यूरोप में लाल रंग शोक का प्रतिक है' किन्तु प्लेन्स इंडियनों में विजय और उल्लास का। चीन में श्वेत रंग शोक का प्रतीक है जबकि चेरोकी जाति में दक्षिण दिशा का। भिन्नता की यह स्थिति कला संबंधी धारणाओं से लेकर में राग और लय दोनों महत्वपूर्ण हैं, लेकिन बहूत सीअफ़्रीकी संस्कृति एकापत्नित्व को आदर्श मानती है और इस्लामी संस्कृति बहूपत्नित्व को, जबकि भारत की कुछ जातियों में बहूपत्नित्व आदर्श भी है व्यवहार भी। इस तरह प्रतिमानों की सार्थकता स्थानीय या क्षेत्रीय होती है और उसके संबंध में हर संस्कृति के अपने तर्क होते हैं जिन्हें वह अकाट्य मानती है।"

संस्कृति के अध्येताओं के लिए सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के अनेक अभिप्राय हो जाते हैं। इसी तर्क के आधार पर यह माना जाता है कि न तो किसी संस्कृति को श्रेष्ठ कहा जा सकता है और न हीन, न तो महत्वपूर्ण और न महत्वरहित। जब हम कुछ जातियों को आदिम कहते हैं तो संभवत: हमारा अभिप्राय यही होता है कि वे हमारे समकालीन जीवन की पूर्ववर्ती स्थिती के उदारहण हैं। लेकिन यह धारणा भी तथ्याधारित नहीं ठहरती। वस्तुत: विश्व के मानचित्र पर अलग-अलग भौगोलिक परिवेश में इतनी किस्म की संस्कृतियाँ विद्यमान हैं, रही हैं की कहना पड़ता है कि हर समाज की संस्कृति उसका सांचा है और सामान्य संस्कृति के लक्षणों के निर्धारण में किसी भी एक संस्कृति का सांचा सम्पूर्ण नहीं हो पाता।

झारखण्ड सांस्कृतिक क्षेत्र का एक भाग भी कहा जाता रहा है, सांस्कृतिक दृष्टि से एक समृद्ध अतीत और वर्त्तमान का क्षेत्र है। अगर आपकी दृष्टि सिर्फ एक पर्यटक की दृष्टि नहीं है और उस पर औद्योगिक विकास के आंकड़े पढ़ने वाला चश्मा हो, तब आप झारखंडी संस्कृति की विशिष्ट पहचान से साक्षात्कार कर सकते हैं। यह क्षेत्र और यहाँ की मूलवासी जातियाँ जिनमें जनजातियाँ और सदानी समुदायों की साझेदारी है, सदियों से एक समरस और समतावादी समाज बनाकर रहते आए हैं।

यह इतिहास लगभग दो हजार साल पुराना इतिहास है जब सदानी जातियों की मूल जाती नागवंशियों ने छोटानागपुर में राज्य बनाया था। खुखर राज्य के पहले राजा नागवंशी फणीमुकूट राय थे जिन्होंने मुंडाओं के सहयोग से राज्य की स्थापना की थी। नाग जाति के बारे में

अभी तक पर्याप्त शोध नहीं हुए हैं किन्तु डॉ. अम्बेडकर, डॉ. कुमार सुरेश सिंह, डॉ. बी.पी. केशरी तथा कई अन्य विद्वानों ने जो प्रमाण और साक्ष्य जुटाए हैं वे नाग जाति के इतिहास के अस्तित्व को स्पष्ट स्थापित करते हैं। नाग जाति बहुत सुसंस्कृत, बहादुर और शांतिप्रिय जाति रही हैं इस जाति ने गौतम बुद्ध के नेतृत्व में सैकड़ों वर्षों तक ब्राह्मण धर्म के जातिभेद और छुआ – छूत के खिलाफ संघर्ष किया था। हिन्दूओं ने अपने बहुत से पर्व – त्योहार इस जाती के संस्कृति से लिए हैं प्रसिद्ध राजा शशांक इसी नाग जाति के थे।

सदानी जातियों के समानांतर इस क्षेत्र जनजातीय समाज और उसकी संस्कृति भी बहुत पुरानी है। मुंडा जनजाति के भूमिज लोगों ने सिंहभूम- वराहभूम के इलाके में भूमिज राज कायम किया था।" छोटानागपुर में पाए जाने वाले अनेक असुर स्थलों पर प्राप्त पुरातात्विक वस्तुओं के आधार पर यह कहा जाता है की सांस्कृतिक दृष्टि से छोटानागपुर उतना ही प्राचीन है, जितनी सिन्धु घाटी की सभ्यता। फिर भी साधारणत: बिहार का और विशेषकर छोटानागपुर का प्रारंम्भिक सांस्कृतिक इतिहास रहस्य के आवरण में ढंका हुआ। इसलिए इस क्षेत्र का इतिहास मुख्यत: वैदिक पौराणिक, जैन तथा बौद्ध साहित्य के छिटपुट अवलोकन, पुरातात्विक वस्तुओं के अध्ययन एवं क्षेत्रीय लोकसाहित्य और दंतकथाओं के विश्लेष्ण के आधार पर ही तैयार किया जा सकता है।.... ऐसा अनुमान किया जाता है कि मुंडा लोग इस क्षेत्र में ईसाई युग शुरू होने से पहले ही आकर बसने लगे होंगे। असुर संस्कृति के बारे मे यह कहा जा सकता है कि यह संस्कृति कम-से- कम कुषाण काल तक (लगभग 70 से 150 ई. सन) तो थी ही जैसा कि दो असुर स्थलों पर पाए जाने वाले कुषाण सिक्कों से पता चलता है। ऐसा मन जाता है कि असुर लोग भगवान शिव के बड़े भक्त थे तथा शिव लिंग की पूजा करते थे।"[7,8,9]

"मानव वैज्ञानिक का एक समुदाय भारत को जनजातीय और गैरजनजातीय सांस्कृतियों के विलगाव और असम्बद्धता पर इतना अधिक बल देता रहा है कि आज हम उनको एकदम भिन्न मानने लगे हैं। लेकिन ऐतिहासिक संदर्भ में विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उतनी भिन्न और असम्बद्ध नहीं हैं जितनी समझी और समझायी जाती हैं। बहुत सी जनजातियाँ हिन्दू समाज की जातियों में बदल गई हैं और बहुत सारी सांस्कृतिक विशेषताएँ उसकी सामान्य संस्कृति के अभिलक्षण बन गई हैं। जहाँ उनका स्थानांतरण जातियों में नहीं हुआ है, वहाँ भी गैरजनजातियों समुदायों से उनका सम्पर्क बना रहा है। यह जरूरी नहीं कि जो जनजातियाँ आज गैरजनजातियों साथ या समीप न रहकर उनसे दूर और अलग रही हैं, वे अतीत में उनके साथ या निकट नहीं रहती थीं।

उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार वे बहुत – से भारतीय प्रदेशों में शताब्दियों से लगभग एक परिमती भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती रही हैं तो भारत के एक सीमांत से दुसरे सीमांत तक उनका आव्रजन ही हुआ है। प्रत्येक स्थिति में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बाध्यताओं के कारण, वे गैरजनजातीय समुदायों के सम्पर्क में आती रही हैं। यही नहीं उनका एक उल्लेख भाग गैरजनजातीय लोगों के साथ गांवों में निवास करता रहा है। इतिहास के विभिन्न कालों में आपसी संपर्कों से लेकर सन्निकटता और रक्त मिश्रण जैसी स्थितियों के कारण उन्होंने भारतीय संस्कृति के नाम से जानी जाने वाल संस्कृति का निर्माण और विकास ग=किया है।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि झारखण्ड की जनजातीय संस्कृति और गैर जनजातीय सदानी संस्कृति के बीच परस्पर आदान-प्रदान का सिलसिला पुराना है। इसकी जाँच के आधार के रूप में भाषा का उपयोग जिन विद्वानों ने किया है, उनमें डॉ. कायपर, प्रोपिजूलिस्की, डॉ. प्रबोधचंद्र बागची, प्रो.सिलवां लेवी और डॉ. दिनेश्वर प्रसाद के अध्ययन से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि संस्कृतिक संबद्धता का इतिहास उतना ही पुराना है जितना इस दुर्गम क्षेत्र में मानव-विकास।

इस संस्कृतिक सम्बद्धता की सदियों पुरानी परंपरा को डॉ. वीर भगत तलवार जैसे विद्वान झारखंडी बनाम ब्राह्मणवादी संस्कृति की संघर्ष यात्रा के रूप में विवेचित करते हैं। उन्होंने यह बताने की कोशिश की है। झारखण्ड की समतावादी संस्कृति और भेदवादी ब्रह्मण वादी संस्कृति एक दुसरे की विरोधी हैं। कालान्तर में जो संस्कृतिक प्रदूषण इस क्षेत्र की अनार्य संस्कृति में फैला है, वह ब्राह्मणवादी संस्कृति के हस्तक्षेप के कारण ही। उनका माना है की झारखंडी जातियों के ब्राह्मणीकरण की शूरूआत असल में झारखण्ड में सामन्ती राज्य सत्ताओं के उदय के बाद से हुई। अपने कथन के लिए साक्ष्य जुटाते हुए डॉ. तलवार, डॉ. कुमार सुरेश सिंह के चेरो लोगों पर किए गए शोध अध्ययन का हवाला देते हैं जिसमें जिसमें दिखलाया गया है कि झारखण्ड में विभिन्न सामन्ती राज्य कायम हुए तो उनके राजपरिवार ही, जो बाकी जनता पर अपनी श्रेष्ठता को साबित करना चाहते थे, ब्राह्मणवादी संस्कृति को लाने के माध्यम बने। एक ही कबीले के शेष लोगों से खुद को ऊंचा घोषित करने के लिए अपना संबंध ब्राह्मणवाद से जोड़ा। इस काम के लिए ब्राह्मणवाद ही सबसे उपयोगी व्यवस्था थी क्योंकी यह सिर्फ ब्राह्मणवाद ही है जो समान लोगों के बीच ऊँच–नीच की धारणा को पैदा करता है और उस भेद को कायम करने के लिए धर्म का पवित्र आधार पेश करता है। डॉ. कुमार सुरेश सिंह इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण कहते है।

डॉ. तलवार पूछते हैं- "और इस संस्कृतिककरण का नतीजा क्या निकला? सदान कबीला दो भागों में बंट गया। राजपरिवार से जुड़े सदान ब्रह्माणवादी संस्कृति के एंजेंट बने और अपने को बाकी सदानों से श्रेष्ठ समझने लगे तथा राजपरिवार द्वारा शासित होने वाले अशिक्षित, निर्धन और गरीब सदान जो आदिवासियों से भी अधिक खराब अवस्था में रहते हैं। सदान जब झारखण्ड में आए थे तब एक कबीला थे, उनमें जाति - प्रथा नहीं थी। ब्राह्मणवाद ने उनके अंदर जाति-प्रथा पैदा की और कुछ को ब्राह्मण, कुछ को क्षत्रिय, कायस्थ, वैश्य और बाकी को शूद्र घोषित कर दिया। वराहभूम में सामन्ती राज खड़ा करने वाले भूमिज दो भागों में बंट गए – राजपरिवार से जुड़े सरदार भूमिज और बाकी मामूली भूमिज।"

अब तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छोटानागपुर की संस्कृति, जिसे झारखंडी संस्कृति की पहचान और नाम भी दिया जाता है, एक पुरानी संस्कृति है। उसे इस भौगिलिक क्षेत्र में आर्य मूल के

नागवंशी सदान जातियों और मुंडकुल के जनजातीय समुदायों ने मिल-जुलकर श्रम प्रधान समतावादी जातिचेतना से रहित संस्कृति के रूप में विकसित किया था। यों तो इस क्षेत्र की विशिष्ट संस्कृति शेष भारतीय संस्कृति के जीवन सम्पर्को में आती रही और दोनों पक्षों ने एक-दुसरे के संस्कारों को आदान - प्रदान के स्तर पर प्रभावित भी किया, किन्तु मध्य काल में मुस्लिम शासन की अवधि में सामन्ती राजसत्ताओं के स्थापित होने के बाद इस क्षेत्र के संस्कृति जीवन में बाहरी आबादी का आवागमन बढ़ने के साथ संस्कृतिकरण का एक नया दौर शुरू हुआ।[10,11,12]

छोटानागपुर या झारखण्ड के सांस्कृतिक परिवर्तनों के पिछले पांच सौ वर्षों का इतिहास व्यापक उलट-फेर का काल रहा है और उसने झारखंडी संस्कृति की बुनियादी पहचान को कई स्तरों पर तोड़ा और मोड़ा हैं। इसी दौर में पुराने समाज-संगठन ढीले पड़े और मुस्लिम और ईसाई जोवन – दृष्टियों से उसका परिचय हुआ। इसलिए यह कहना इतिहास सम्मत होगा कि अपने प्रारंभिक उद्भावकाल में इस क्षेत्रीय संस्कृति में हिन्दू समाज- संस्कृति की कई विकृतियाँ और संस्कार जुड़े, किन्तु इससे ज्यादा बड़े पैमाने पर संस्कृति- संकरता के आक्रमण मुस्लिम और अंग्रेज शासन – काल में दिखाई पड़ते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख अत्यंत महत्त्व का है कि आज के क्षेत्र की दो प्रमुख जनजातियों का प्रवेश इस क्षेत्र में इसी अवधि में हुआ है। ये जनजातीय समुदाय संताल और उराँव कबीलों के हैं जो मुंडाओं और सदानों के बाद उत्तर मध्यकाल और पूर्व आधुनिककाल के बीच सबसे बड़े जनसांख्यिक समीकरण बनाने से सफल हुए। उरांवो और संतालों के आगमन से पूर्व झारखण्ड के ये क्षेत्र असुरों और पहाड़िया जनजातियों के प्रभुत्व में थे।

भारत के इतिहास में सन 647 से 1200 ई. तक के काल को राजपूत काल भी कहा जाता है। छोटानागपुर राज पहली सदी में स्थापित हुआ माना गया है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद फणी मुकूट राय छोटानागपुर के प्रथम राजा हुए। सन 83 में 19 वर्ष की अवस्था में इन्हें शासन में बिठाया गया था। पश्चिम भार्म में तब कनिष्क का शासन (सन 78-102) था।

उरांवों के संबंध में यह कहा जाता है कि वे शेरशाह के रोहतास पर आक्रमण के बाद वहाँ से भागकर छोटानागपुर में आए। उनके रोहतास छोड़ने की तिथि 6 अप्रैल, 1538 बताई जाती है। इसे अगर आधार माना जाए तो उरांवों को छोटानागपुर में बसे लगभग साढ़े चार सौ वर्ष ही हुए हैं। इसी तरह छोटानागपुर में संतालों का आगमन अंग्रेजों के शासनकाल में ही संभव हुआ। आज जिसे संताल परगना क्षेत्र के नाम से जाना जाता है, उस क्षेत्र में संतालों का आगमन अभी सिर्फ दो सौ वर्षों पहले की बात है। इस क्षेत्र के निवासी पहाड़िया जनजाति के लोग हैं। ब्रिटिश साम्राज्य का शोषण एवं दमन जब बढ़ने लगा तब पहाड़िया लोगों ने विद्रोह किया। उस विद्रोह के दमन के लिए अंग्रेजों ने सन 1770 से 1790 के बीच संतालों का यहाँ लाकर बसाया था। इस प्रकार आज के झारखण्ड के क्षेत्र के दो बड़े जनजातीय समुदायों का इतिहास इस क्षेत्र के लिए अधिक पुराना नहीं है।

छोटानागपुर की जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन की यह अवधि पुरानी पहचान के कारणों के नष्ट होने की दृष्टि से विशेष रूप से विचारणीय हो जाती है। रोहतास से राँची पहूंचकर भी उराँव संस्कृति भी नए दबावों में आकर कायाकल्प करने को विवश हुई। ब्रिटिश कानूनों के तहत जनजातियों की सम्पत्तिविषयक आवधारणा का सम्पूर्ण क्षरण हुआ। उनकी समूदयिकता की भावना में पतनोन्मूख प्रवृत्तियाँ विकसित हुई और उनके खूंटकट्टी गांवों की भूमि- व्यवस्था भंग हो गई तथा उसकी जगह निजी स्वामित्व की सम्पत्तिविषयक आवधारणा का विकास हुआ। धर्मांतरण ने भी स्वयं इन समुदायों के धीरे – धीरे फैलते – बढ़ते-संगठित होते एक प्रभावशाली वर्ग को अपनी संस्कृति की मूल जड़ों से काटकर आधुनिकीकरण और अलगाव के खाते में दर्ज कर दिया। इस नई स्थिति के कारण जनजातियों के समाज- संगठन कमजोर हुए, सामाजिकता की भावना में ह्रास आया, अखरा- घुककुडिया की परंपरा अवरूद्ध हुई।

विचार-विमर्श

जनजातीय अर्थव्यवस्था के विकास की यात्रा भूख और भय से मुक्ति के प्रयास तथा सुरक्षित आवास एंव भोजन से प्रारम्भ होकर वनों के इर्द - गिर्द संघर्ष की निरन्तरता है। वन धरती पुत्र जनजातियों की बहुमूल्य प्राकृतिक सम्पति है जिसके सहारे उनकी सामाजिक, आर्थिक एंव पारिस्थितिकीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। आदिमकाल से जनजाति संस्कृति व वनों का चोली दामन का साथ रहा है। प्रारंभ से ही जनजातियों का निवास वन क्षेत्रो में ही रहा है। वनों ने जनजातीय जीवन एंव संस्कृति के उद्भव, विकास तथा संरक्षण में आधारभूत भूमिका प्रस्तुत की है। प्राचीन काल से जनजातीय लोग जंगलों को अपनी सम्पति का प्रमुख अंग मानते है। भीलों का जीवन वनों पर ही आश्रित था। अपनी आजीविका के लिए वनों के संरक्षण में विभिन्न प्रकार की उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करते थे। अट्ठारहवीं शताब्दी में दक्षिणी राजस्थान मे क्रमशः मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा रियासतों में वनों का सघन आवरण था। इन क्षेत्रों में पाए जाने वाले प्रमुख पेड़ों के नाम इस प्रकार थे बबूल, बेर, चन्दन, धोक, धामन, धावड़ा गुदी, हल्दू, इमली, जामुन, कजरी, खेजड़ी, खेड़ा, कुमटा, महुआ, नीम, पीपल, सागवान, आम, मुमटा, सालर, बानोटीया, गुलर, बांस आदि वृक्षों के घनघोर जंगल थे। इन जंगलों से प्राप्त विविध सामग्री का निःशुल्क उपयोग करते थे तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

भारत में प्राचीन काल से जनजातियां जंगलों में अपना जीवन यापन करती रही है। इन जनजातियों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना, वन उपज को एकत्रित करना, पशुपालन, आखेट जंगलों से अनउपयोगी लकडियाँ निकालना, झुम पद्धति से कृषि करना मिलने पर मजदूरी करना आदि रहा है। [4] आदिम जनजातियों का आर्थिक दृष्टि से विभाजन मजूदामर तथा मदान [5] ने चार वर्गों में विभाजित किया है।

1. भारतीय आदिवासी जनजातियों का एक बड़ा भाग वनों पर निर्भर रहा है। यह प्रायः वनों में या उनके निकट निवास करते है। भोजन

जमा करना ही उनकी अर्थव्यवस्था की प्रमुखता है। ये लोग झुम प्रद्धति से कृषि करते है।

2. दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते है जो भोजन संग्रहीता तथा आदिम कृषि व्यवस्था के प्रकारों के बीच है।
3. तीसरी श्रेणी में कृषि के साथ साथ जंगलों से वनपत्तों का संचय करते है।
4. चौथी श्रेणी में स्थायी कृषि जो हल एवं उनसे सम्बन्धित पशुओं का प्रयोग कृषि कार्य में करते है।[13,14]

परिणाम

जनजातियों ने बिना किसी भय के संघन वनों में जंगली जानवरों व प्राकृतिक आपदाओं से लड़ते हुए अपने जीवन को संघर्षमय बनाया। उन्होंने कृषि के लिए सर्वप्रथम जंगलों को काटकर जलाया। भूमि साफ कर कृषि के योग्य बनाई और पशुपालन को प्रोत्साहन दिया। धीरे - धीरे विभिन्न गाँवों तथा कस्बों का निर्माण किया गया। जनजातीय लोग प्रारम्भ से ही प्रकृति पूत्र रहे है। उनका आर्थिक जीवन भी बड़ा विचित्र रहा है। उनके जीवन में आर्थिक व्यवस्था तथा भौतिक वातावरण में प्रकृति का बड़ा योगदान रहा है। अतः स्वभाविक है कि आदिम मानव पर भी उनकी विभिन्न आवशयकताओं के निर्धारण में आर्थिक पक्ष महत्वपूर्ण माना जाता है। [6]

जनजातियों की अधिकांश जनसंख्या दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती है। ये संचार के संसाधनों, नगरों और कस्बों से दूर थे, फलतः सम्पर्क के अभाव में गैर जनजातीय क्षेत्रों की कृषि सम्बन्धी उन्नत विधियों से जनजातीय लोग अनभिज्ञ रहे है। सिंचाई के साधनों का अभाव, उपजाऊ भूमि की कमी के कारण ये लोग परम्परागत कृषि व्यवस्था को अपनाये रहे है। मध्यकाल में दक्षिणी राजस्थान में वागड़ की जनजातियां दाजिया या झुमटों प्रद्धति से भूमि को साफकर कृषि करने लगे। इस प्रद्धति के अन्तर्गत जनजातियों द्वारा जंगलों को काट कर जला दिया जाता था। जलाये गये स्थान को कुंदाली, गैती आदि औजारों से समतल बना देते थे तथा बारिश के दिनों में जब भूमि में नमी बढ़ जाती जब उन्हें औजारों से खोद कर बीज डाल देते थे। फसल बोने एवं काटने के समय एक कृषक को अन्य जनजातीय परिवार के सदस्य भी सहयोग देते थे। इस प्रकार के सहयोग को हल्मा [7] कहा जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी में जनजातियों ने व्यवस्थित तथा स्थायी कृषि कि और विशेष ध्यान दिया। इस समय उन्होंने खेती के तरीकों में सुधार करते हुए लकड़ी से बने हल का उपयोग करना आरम्भ किया। उन्होंने नये कुएं खोदने के कार्य भी प्रारम्भ किये। कृषि तथा अन्य कार्य को संयुक्त रूप से आपस में मिलकर किया जाने लगा।

जनजातीय संस्कृति का जंगल से चोली दामन का साथ रहा है। वनों के सहारे जनजातियों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया घने जंगलों में विचरण करते हुए उन्होंने जंगली जानवरों शेर, भालु, सुअर, गेंडे, सर्प, अजगर, बिच्छु आदि से बचने के लिए आखेट का सहारा लिया। वनों एवं पहाडियों के आन्तरिक भागों में रहते हुए भील जाति शिकार करके अपनी आजीविका चलाते थे। मध्य काल में बाहरी आक्रमणकारियों ने इनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तब उनकी स्वतन्त्रता का हनन हुआ। इससे पहले भील जनजाति जंगलों में झुम पद्धति से खेती पशुपालन, मजदूरी तथा आखेट स्वतन्त्र रूप से करती है। आखेट के मामले में भील बड़े ही निपूर्ण थे। इनका निशाना बड़ा अचुक होता था। [8]

प्राचीन काल से जनजातीय लोग जंगलों को अपनी सम्पति का प्रमुख अंग मानते है। भीलों का जीवन वनों पर ही आश्रित था। अपनी आजीविका के लिए वनों के संरक्षण में विभिन्न प्रकार की उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करते थे। अट्ठारहवी शताब्दी में दक्षिणी राजस्थान मे क्रमशः मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा रियासतों में वनों का सघन आवरण था। इन क्षेत्रों में पाए जाने वाले प्रमुख पेड़ों के नाम इस प्रकार थे बबुल, बेर, चन्दन, धोक, धामन, धावड़ा गुदी, हल्दू, इमली, जामुन, कजरी, खेजड़ी, खेड़ा, कुमटा, महुआ, नीम, पीपल, सागवान, आम, मुमटा, सालर, बानोटीया, गुलर, बांस आदि वृक्षों के घनघोर जंगल थे। इन जंगलों से प्राप्त विविध सामग्री का निःशुल्क उपयोग करते थे तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।[15]

निष्कर्ष

दक्षिण राजस्थान के वनों में उत्पादित वस्तुओं मे प्रमुख है - अरीठा, आंवला, गोंद, धावड़ा बबुल, खेर, केलडी, कडैया, आवर, सेलाई वृक्षों से करा, कत्था, लाख, मौम धोली व काली मुसली, शहद इत्यादि। [9]

जडी - बुटियाँ

जड़ीबुटीयों का उपयोग जनजातीय लोग विभिन्न तरह के रोगों के निवारण के लिए करते थे जिनमें प्रमुख - आँवला का बीज, हेतड़ी आमेदा, आक, करनीया, ब्राह्मी, बोहड़ा रोंजडा, भोग पत्तियां धतुरा बीज हड भुजा, कनकी बीज, मेंण, अमरा, कोली, कादां, पड़ूला, गीगचा इत्यादि का उपयोग करते थे। आमेदा के बीजों को पीसकर खाने से दस्त बंद होती है। अरण्डी के तेल से मालिश एंव पत्तों को गर्म कर के कमर में बाँधने से दर्द कम होता था। बुखार के लिए कड़ा वृक्ष के बीजों को पीस कर पीते थे। [10] जोडों में दर्द के लिए ग्वार व सैजने के गोंद का उपयोग करते थे। फोडे फुन्सियों एव चर्म रोग के लिए नीम के पत्तों को उबालकर पीते थे। इसके अतिरिक्त तुलसी लौंग, सोठ, पीपल, काली मिर्च का उपयोग बुखार एवं जुखाम के लिए करते थे।

व्यापार के रूप में उपयोग

व्यापार - वाणिज्य के लिए जनजातीय लोग अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीदने के लिए तेंदु पत्ते का संग्रह करके बीड़ी बनाते थे तथा गोद रबड़ को अपने आस - पास के गाँवों कस्बों में बेचने जाते थे। मुख्य रूप से खेर जैसने, धावड़े उदलरे आदि का गोंद यहाँ के जंगलों में मिलता था। [11] रस्सी बनाने के लिए खाकरा, जूट, पानी जुला सवा आदि। महुआ के फलों का तेल निकालने के अतिरिक्त खाने, शराब बनाने एवं कस्बों में बेचा भी जाता था। बांस की लकड़ी छीलकर ये टोकरियाँ बनाने, सूप झाड़ू कोठियां, पंखे सीढियाँ बनाकर बेचा करते थे। भील महिलायें घास एवं विभिन्न तरह की लघु वन सम्पति को एकत्रित करके निकट कस्बों में बेचने जाती थी। भील इन सभी वस्तुओं की बिक्री स्थानीय हाटों एवं मेलों के माध्यम से भी करते थे। प्राचीन काल में गुजरात

व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बाजार था। इसकी सीमाएं दक्षिणी राजस्थान के राज्यों से मिलती थी। अतः यहाँ के भील महुआ के फूल और धावड़ी गोंद को अहमदाबाद रतनपुर एवं बडौदा तक बेचने जाते थे। [12]

ईंधन के रूप में उपयोग

जलाने के लिए प्रमुख रूप से सांटेडा, काकुन, बबुल, बावरिया, गुजर, बैर, धोंक की लकड़ी का उपयोग किया जाता था। अपने हथियार तीर - कमान बनाने के लिए सादेड़ा तथा बांस लकड़ी का उपयोग किया जाता था। पशुओं का चारा कलम, जंगम, सालर वोपारिया, गुलर मौखा, नरम दाल, मीठी छाल, दूब, वनफल, आदि वनों से निःशुल्क प्राप्त होता था। कृषि कार्य मे धामन, वावरिया, धावड़ा, नीम, सागवान बैर, बबूल, रेतुआ का उपयोग हल हमाडी, जोहरा बनाने के लिए किया जाता था। अपने मकान बनाने के लिए जनजातियाँ शीशम आदि की लकड़ी का उपयोग करते है। जंगलों से जनजातियों को प्रकृति द्वारा स्वंच्छ वातावरण, स्वच्छ जल, नदियाँ, नाले झरने, पशु - पक्षियों का कोलाहल सीमित तापमान, हरियाली, आर्द्रता, समय पर वर्षा, मिटटी कटाव से रोक, आंधी एंव तूफानों से रक्षा, प्राकृतिक खाद, बाढ़ पर नियंत्रण, वन्य प्राणियों का शिकार व मनोरंजन इत्यादि निःशुल्क उपलब्ध होते थे। इसलिए जनजाति की संस्कृति में प्रकृति का हमेशा घनिष्ठ सामंजस्य रहा है। [13]

वनों का आर्थिक महत्व

वन आदिवासियों की धरोहर रहे है। वनों के संरक्षण से आदिवासियों की अर्थव्यवस्था को गति एवं संस्कृति को गरिमा प्रदान होती रही है। वस्तुतः वन आदिवासियों के पोषक रहे है जिनसे उन्हें विभिन्न प्रत्यक्ष लाभ जैसे - ईधन, मवेशियों के लिए चारा, मकान निर्माण के लिए लकडी, खाद, फल - फूल, सब्जियों, खाने योग्य कन्दमूल विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ जड़ी - बूटियाँ अनेक वाणिज्य उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुएं आदि प्राप्त हुए। अप्रत्यक्ष लाभ - स्वच्छ और शीतल वायु, पक्षियों का कलरव संतुलित तापमान, समय पर वर्षा हरियाली, खुश्बू आँधी और तूफान से रोक तथा बाढ़ आदि से बचाव भी होता रहा है।

एस़. एन. व्यास के अनुसार सन् 1948 में राजस्थान के गठन के बाद जनजातियों को 1749-55 की समयावधि में वनों के उपयोग की अधिक सुविधाएं प्रदान की गयी जो क्रमशः इस प्रकार है।

1. हर जनजाति परिवार को हर तीन साल में मकान निर्माण के लिए 158 घन फीट लकडी और 15 घन फीट काष्ट कृषि उपकरणों हेतु दिया जायेगा।
2. ईंधन मुफ्त दिया जायेगा।
3. वन क्षेत्र में मवेशियों को चरने दिया जायेगा।
4. घेराबंदी के लिए मुफ्त झाड़ियाँ प्रदान करना।
5. घास एवं पत्तियों का चारा मुफ्त प्रदान किया जायेगा आदि रियायतें प्रदान की गयी ।

वर्तमान में वन विभाग द्वारा आरक्षित एवं सुरक्षित वनों पर भी आदिवासियों के अधिकार लुप्त हो गए है। वनों एवं उनकी रियायतों पर प्रतिबंध लगा दिए तथा इनका उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड का प्रावधान रखा गया परिणामस्वरूप राज्य के विभिन्न आदिवासी लोग वन उत्पादित वस्तुओं से वचित हो रहे है। [14]

वनों से कई लाभ होते है जो जलवायु को कम व सम बनाना, वर्षा आकर्षित करना, बाढ़ व आधिंयों के प्रकोप को कम करना भूमिक्षरण को नियंत्रित रखना, वनस्पति अंश प्रदान करके मिटटी में हुमस तत्व के द्वारा उत्पादकता बढ़ाना, भूमिगत जल स्तर को बनाये रखना, वन जीवों को संरक्षण प्रदान करना, वन वर्षा के समय जल के प्रवाह को नियंत्रित करते है तथा मृदा अपरदन एवं बाढ़ की समस्याओं पर नियत्रंण रखने के लिए प्रभावी भूमिका निभाते है। ये वनस्पति एवं जीव जगत की अनेक प्रजातियों को संरक्षण प्रदान करते है।

वनों के विनाश से इन सभी लाभों से मानवता वंचित होती जा रही है। अत्यधिक आर्थिक महत्व होने से आधुनिक युग में वनों का अदूरदर्शितापूर्ण ढंग से दोहन किया जा रहा है। विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग के अनुसार विश्व में प्रतिवर्ष 110 लाख हैक्टर भूमि के वन नष्ट किये जा रहे है पर्यावरण विशेषज्ञ के अनुसार प्रत्येक देश में उपलब्ध भूमि के लगभग 33 प्रतिशत भाग पर वन होना आवश्यक है। भारत में केवल 19 प्रतिशत भू - भाग पर ही वन पाये जाते है। राजस्थान में कुल क्षेत्रफल का 9.49 प्रतिशत भाग वनों से आच्छादित है। राजस्थान में कुल वन क्षेत्र का 39. 26 प्रतिशत आरक्षित वन 52. 62 प्रतिशत रक्षित वन और 8.48 प्रतिशत अवग्रीकृत वन है। राज्य में प्रति व्यक्ति 0.06 हेक्टेयर वन क्षेत्र ही है जो राष्ट्रीय स्तर पर 0. 11 हैक्टेयर प्रति व्यक्ति से कम है। [15]

मानव अपने स्वार्थवंश भौतिक उन्नति के उद्देश्य से वनों का दोहन करता रहा है। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव द्वारा भौतिक संसाधनों का प्रयोग जब तक केवल अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति तक संयमित रहा है, तब तक पर्यावरण और पारिस्थितिकीय संतुलन बना रहा है लेकिन आधुनिक काल में तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या से एसी विकट परिस्थिति पैदा हो गई है कि वन संरक्षण के बारे में सोचना आवश्यक हो गया है। पारिस्थितिकीय संतुलन के लिए देश में प्रतिवर्ष - वन महोत्सव व साथ ही मार्च में विश्व वानिकी दिवस तथा अक्टूम्बर के प्रथम सप्ताह को वन्य जीव सप्ताह के रूप में मनाया जाता है। [16] इसमें कोई दो मत नहीं है कि वन और वन्य प्राणियों का विनाश मानवता के लिए दुर्भाग्यपूर्ण स्थित का सूचक है क्योंकि वन्य जीवन के बिना वनों की कोई सार्थकता नही है और वनों के बिना हम जीव जगत का अस्तित्व नहीं हो सकता ।[16]

संदर्भ

[1] दोसी, शम्भुलाल / व्यास, नरेन्द्र एन (1992). " राजस्थान की अनुसूचित जनजातियाँ " हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ. स. 7-8

[2] मेहता, जोधसिंह (1954). "आदिवासी भील " साहित्य संस्थान राजस्थान विधापीठ, उदयपुर पृ. स़. 19-20

[3] दूबे, एस. सी. (1986). '' ट्राइबल हेरिटेज ऑफ़ इण्डिया " विकास पब्लिसिटी हाउस, नई दिल्ली पृ. स. 2-4

[4] मीणा, जगदीश चन्द्र (2003). "भील जनजाति का सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन " हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ. स. 49

[5] मजुरमदार एवं मदान (1978). "द रेस एण्ड कल्चरल ऑफ़ इण्डिया एंन्थ्रोपोलॉजी ", नई दिल्ली पृ. स. 153

[6] तिवारी, शिवकुमार (1998). "कुमार मध्य प्रदेश के आदिवासी " मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल पृ. स. 183-192

[7] तिवारी शिव कुमार " मध्यप्रदेश के आदिवासी " पृ. स. 183

[8] " रिपोर्ट ऑन एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ डूंगरपुर स्टेट " 1918 जिला सार्वजनिक पुस्तकालय डूंगरपुर

[9] " एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ़ डूंगरपुर स्टेट ", 1939 पृ. स. 23

[10] अर्सकिन " मेवाड़ गजेटियर " " भाग - 2 पृ. स. 127, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, उदयपुर

[11] सिगलीगर, पूनम " वन एवं आदिवासी समाज " पृ. स. 61, 63

[12] एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ़ द मेवाड़ स्टेट 1904-05 पृ. स. 10

[13] पलात, रामचन्द्र (1987). "राजस्थान की वनविहारी जनजातियां " श्री नीलकमल पलात एंण्ड ब्रदर्स " पाल झोथरी, भिण्डी जिला - डूंगरपुर राज. पृ. स. 64-67

[14] जैन श्रींचद (1974). "वनवासी भील और उनकी संस्कृति " रोशनलाल जैन एण्ड संस, जयपुर, पृ. स. 104-106

[15] दोसी, शम्भुलाल / व्यास, नरेन्द्र एन (1992). "राजस्थान की अनुसूचित जनजातियां " हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ. स. 69-72

[16] सुभाषिनी कपूर (1990). "राजस्थान के भील और लोक संस्कृति " सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली पृ. स. 35

International Journal of Trend in Scientific Research and Development
IJTSRD
International Journal of Trend in Scientific Research and Development
ISSN: 2456-6470